681 CMYK

भारत में केंद्रीय बैंकिंग का विकास*

राकेश मोहन

मुझे आयोजकों को बधाई देनी चाहिए कि उन्होंने इस सेमिनार में व्याख्यान के लिए इस महत्वपूर्ण विषय को चुना है। मुझे यह बताते हुए अपार हर्ष हो रहा है कि ''मुद्रा और वित्त की रिपोर्ट- 2004-05'' का जिसे भारतीय रिज़र्व बैंक स्टाफ द्वारा तैयार किया गया था, का भी मुख्य केंद्रीय विषय भारत में केंद्रीय बैंकिंग का विकास (भारतीय रिजर्व बैंक, 2005 क) ही है। उक्त रिपोर्ट का संकलन करते समय मैंने पाया कि केंद्रीय बैंकिंग के विकास की प्रक्रिया सारे विश्व में तथा भारत में भी काफी रोचक और ज्ञानवर्धक रही है। केंद्रीय बैंकिंग की कार्य प्रणाली की सबसे आकर्षक विशेषता सभी समयों में और सभी देशों में समसामयिकता के रूप में यह नहीं है कि उनके कार्य कितने समरूप हैं या रहे हैं, बल्कि यह है कि वे कितने विषम प्रकार के हैं और किस प्रकार उनके कार्य लगातार बदलते हुए समय के साथ-साथ किस प्रकार विकसित होते रहे हैं। भारत में केंद्रीय बैंकिंग के विकास का पता लगाने में मेरी रुचि भारतीय रिज़र्व बैंक का इतिहास तीन खंडों में प्रकाशित होने से भी प्रेरित हुई है जिनमें 1935 से 1981 तक की अवधि समाहित है (भा.रि.बैंक 2005ख) ।

I. केंद्रीय बैंकिंग का वैश्विक विकास

केंद्रीय बैंकिंग का विकास अनिवार्यतः बीसवीं शताब्दी की विशेषता है, क्योंकि बीसवीं सदी की समाप्ति पर, विश्व भर में केवल लगभग एक दर्जन केंद्रीय बैंक ही थे। इसके विपरीत, वर्तमान में, लगभग 160 केंद्रीय बैंक हैं । यह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि केंद्रीय बैंकों की आवश्यकता उभरी ही इसलिए क्योंकि बैंकिंग अधिकाधिक जटिल होती चली गई और यह समय के साथ-साथ अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण भाग हो गई। बैंकों तथा उनके जमाकर्ताओं द्वारा झेली गई अनेक विषम परिस्थितियों ने उनके विनियमन के लिए संकट पैदा कर दिया। दूसरा, केंद्रीय बैंक अनिवार्यतः राष्ट्रीय सरकार का लक्षण है। अतः वे राष्ट्रीय सरकारों के रूप में उभरे और कई गुना हो गए, पुनः यह भी बीसवीं शताब्दी की विशेषता थी। तीसरे, केंद्रीय बैंकों के बनने के मूल कारणों को भी याद करना उपयोगी होगा । करेंसी जारी करना, सरकार का बैंकर होना तथा सरकार के लिए ऋणदाता होना, बैंकों और वित्तीय संस्थाओं का विनियमन और पर्यवेक्षण करना तथा अंतिम उधारदाता के रूप में कार्य करना।

यह कितनी विडंबना है कि अधिकांश वर्तमान व्यावसायिक विचारकों की धारणा यह है कि केंद्रीय बैंक को सरकार से स्वतंत्र होना चाहिए, उसे सरकार का ऋण प्रबंधक नहीं होना चाहिए, तथा उसे वाणिज्यिक बैंकों का विनियमन और पर्यवेक्षण नहीं करना चाहिए। केंद्रीय बैंकों को दिया गया नया कार्य है - मूल्य स्थिरता पर ध्यान केंद्रित करना । साथ ही कुछ मामलों में अतिरिक्त उद्देश्य है - वित्तीय स्थिरता प्राप्त करना । यह शायद आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि मूल्यों की स्थिरता पुराने समय से ही करेंसी का मूल्य स्थिर करके ही प्राप्त किया गया, पहले स्वर्ण मान के माध्यम से और बाद में डालर को आधार मुद्रा बनाकर तथा सोने के प्रति इसके संबंध द्वारा । विश्व ने मुद्रा को अपने आधार के रूप में 15 अगस्त 1971 को खो दिया, जब अमरीका ने डालर को स्वर्ण से असंबद्ध करने का निर्णय लिया वह तभी से किसी नए आधार की तलाश में है।

1960 और 1970 के बाद के दशकों में आई उथल-पुथल के बाद जो मुख्यतः वियतनाम युद्ध के वित्तपोषण से संबद्ध रही, विश्व चलनिधि का विस्तार तथा आगामी कुछ लंबे समय तक रहनेवाली मुद्रास्फीति तथा लेटिन अमरीकी राजकोषीय और मौद्रिक विस्तार के साथ-साथ, नया पवित्र मंत्र है - केंद्रीय बैंक की स्वायत्तता, यह एक ऐसी अवधारणा है जो मुद्रास्फीति को लक्ष्यबद्ध करने का पर्यायवाची बन गई है। हालांकि मैं केंद्रीय बैंकिंग पर निश्चित विचार प्रस्तुत करने के लिए नौसिखियां हूं, फिर भी मुझे केंद्रीय बैंकों के बीच चालू फैशन के संबंध में कुछ विश्वासों को स्वीकार करना ही होगा। दो प्रासंगिक प्रश्न पूछे जाने स्वाभाविक ही हैं । पहला, यह इतना स्पष्ट क्यों है कि केंद्रीय बैंकों को अपने 'माता-पिता' केंद्रीय सरकार को त्याग देना चाहिए। इसका एक त्वरित स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि केंद्रीय बैंक अब हाल के वर्षों में 'प्रौढ़' हो गए हैं। तब कुछ उदाहरण जैसे 1990 के दशक में 'ईराक' में और बैंक ऑफ जापान की दो मुद्राओं का चलन 'प्रौढ़' होने की परिकल्पना के विरुद्ध जान पड़ती हैं (किंग 2004) । दूसरी, क्या वास्तव में यह मामला है कि केंद्रीय बैंक द्वारा बैंकों का विनियमन और पर्यवेक्षण हितों में टकराव की ओर ले जाते हैं। इस टकराव का विचार करते हुए, ब्रिटेन में 2000 में वित्तीय सेवा प्राधिकरण की स्थापना की गई और अनेक देशों ने इसका अनुसरण किया। आज मैं जो कुछ करना चाहता हूं वह यह कि आज के संदर्भ में भारत के संबंध में इनमें से कुछ मुद्दों का विश्लेषण करूं।

---

* यह लेख डा. राकेश मोहन, उप गवर्नर, भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा 24 जनवरी 2006 को मुंबई में लंदन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स तथा नैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ बैंक मॅनेजमेंट द्वारा आयोजित सेमिनार में दिए गए व्याख्यान पर आधारित है। भाषण की तैयारी में चरनसिंह तथा पार्थ रे द्वारा दी गई सहायता के लिए आभार।

CMYK 681

II. भारत में केंद्रीय बैंकिंग की ऐतिहासिक घटनाएं

भारत में केंद्रीय बैंकिंग की विशेषताओं वाला एक बैंकिंग संस्थान स्थापित करने का प्रयास 18वीं शताब्दी में शुरू हुआ था। ब्रिटिश इंडिया के शासन काल में बंगाल के गवर्नर ने बंगाल और बिहार में एक केंद्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। 1773 में उक्त बैंक स्थापित तो किया गया, परंतु वह बहुत दिन चला नहीं । यह बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही चेम्बरलेन आयोग (1914) की सिफारिशों के फलस्वरूप हो सका जिसमें तीन प्रेसीडेंसी बैंकों के समामेलन का प्रस्ताव किया गया था, 1921 में इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया बना जो वाणिज्यिक बैंक के कार्यों के अलावा केंद्रीय बैंक के कार्य भी करे। 1926 में रॉयल कमीशन ऑन इंडियन करेंसी ऐंड फाइनेंस (हिल्टन यंग आयोग) ने यह सिफारिश की थी कि करेंसी के नियंत्रण तथा ऋण संबंधी कार्यों और उत्तरदायित्वों के बँटवारों के घालमेल को समाप्त किया जाए। कमीशन ने यह सुझाव दिया था कि भारतीय रिज़र्व बैंक के नाम से एक केंद्रीय बैंक स्थापित किया जाए। सारे देश में बैंकिंग सुविधाओं को बढ़ाने के लिए जिसकी पृथक् रूप से स्थापना को आवश्यक माना गया था, जनवरी 1927 में भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना के लिए विधान सभा में विधेयक प्रस्तुत किया गया, परंतु इसके स्वामित्व, तथा निदेशक मंडल के गठन तथा उसकी संरचना के संबंध में विचारों में मतभेद के कारण इसे छोड़ दिया गया। अंत में, 1933 में एक नया बिल प्रस्तुत किया गया और 1934 में इसे पारित किया गया। 1 जनवरी 1935 से भारतीय रिज़र्व बैंक अधिनियम लागू हो गया। शेयरधारकों की संस्था के रूप में 1 अप्रैल 1935 को भारतीय रिज़र्व बैंक का उद्घाटन किया गया। उक्त अधिनियम में यह प्रावधान किया गया था कि केंद्र सरकार इसके गवर्नर तथा दो उप गवर्नरों की नियुक्ति करेगी। 1 जनवरी 1949 को भारतीय रिज़र्व बैंक (सार्वजनिक स्वामित्व का अंतरण) अधिनियम, 1948 के अनुसार भारतीय रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीकरण कर दिया गया। (आरबीआइ, 2005 ख)।

इसके विधान में निश्चित किए गए अनुसार, भारतीय रिज़र्व बैंक के मुख्य कार्य हैं - (क) करेंसी जारी करना, (ख) ऋण प्रबंधन के कार्यों सहित सरकार के लिए बैंकर, तथा (ग) अन्य बैंकों के लिए बैंक के रूप में कार्य करना। भारतीय अधिनियम की उद्देशिका में इन उद्देश्यों को इस प्रकार बताया गया है - 'भारत में मौद्रिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए बैंक नोटों के निर्गम को विनियमित करना तथा प्रारक्षित निधियां रखना।' असामान्यतया तथा अधिकांश केंद्रीय बैंकों से भिन्न भारतीय रिज़र्व बैंक को इसकी स्थापना से लेकर ही कृषि परिचालनों और फसलों के विपणन के वित्तपोषण की एक महत्वपूर्ण संवर्धनकारी भूमिका भी विशेष रूप से सौंपी गई। वस्तुतः 1935 में भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना के साथ ही कृषि ऋण विभाग भी बना दिया गया था।

केंद्रीय बैंक के रूप में भारतीय रिज़र्व बैंक ने रुपए के बाह्य मूल्य को बनाए रखने का कार्य हमेशा से किया है। ऐतिहासिक रूप से रुपए को पौंड-स्टर्लिंग से संबंद्ध कर दिया गया था, जो भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद भी जारी रहा । सितंबर 1975 के उत्तरार्द्ध में ही रुपए को पौंड स्टर्लिंग से असम्बद्ध किया गया और उसका मूल्य 1991 तक मुद्रा समूह के संदर्भ में निर्धारित किया जाता रहा। उसके तुरंत बाद विदेशी मुद्रा विनिमय दर व्यवस्था मुद्रा समूह से संबद्ध व्यवस्था के स्थान पर मार्च 1993 में बाजार आधारित प्रणाली पर चालू की गई। इस बीच कुछ समय के लिए अर्थात् मार्च 1992 और फरवरी 1993 के बीच की अवधि में दोहरी विनिमय प्रणाली का भी छोटा-सा अनुभव किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले, भारत एक निवल ऋण प्राप्तकर्ता देश था, और ब्रिटिश शासन ने विदेशी मुद्रा के संरक्षण के लिए विदेशी मुद्रा नियंत्रण लागू किए। द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने पर भारत सुरक्षा नियमावली के वित्तीय प्रावधानों के अंतर्गत मुख्यतः गैर स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं (करेंसियों) को सुरक्षित रखने तथा उन्हें अनिवार्य प्रयोजनों के लिए उपयोग में लाने के उद्देश्य से भारत में विदेशी मुद्रा नियंत्रण 3 सितंबर 1939 को लागू किया गया। युद्ध के उपरांत भी मुख्यतः विदेशी मुद्रा भंडार को सर्वाधिक विवेकसम्मत रूप में प्रयोग में लाना सुनिश्चित करने के लिए ये नियंत्रण लागू रहे। तथापि दूसरे विश्व युद्ध के दौरान स्टर्लिंग शेष के भारी संचय हो जाने ने भारतीय रिज़र्व बैंक की ओर से शुरू की गई पहल के रूप में स्टर्लिंग ऋण के प्रत्यावर्तन का अवसर प्रदान किया।

बैंकरों के बैंक के रूप में भारतीय रिज़र्व बैंक का दायित्व अनिवार्यतः दोहरा था। प्रथम, तो इसने बैंकिंग प्रणाली के लिए प्रारक्षित निधियों के स्रोत के रूप में कार्य किया और किसी आपात काल में अंतिम उधार दाता के रूप में अपनी भूमिका निभाई । दूसरे और ज्यादा महत्वपूर्ण दायित्व था - यह सुनिश्चित करना कि बैंकों की स्थापना की जाए तथा जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा पर बल देते हुए उन्हें सुदृढ़ आधारों पर चलाया जाए। 1913 में आए बैंकिंग संकट ने बैंकिंग प्रणाली में प्रमुख खामियों को उजागर किया जैसे, निम्न प्रारक्षित निधियों का रखना, तथा असुरक्षित अग्रिमों का भारी मात्रा में होना। इस प्रकार, अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाए रखने के लिए बैंकिंग प्रणाली के विनियमन को अनिवार्य माना गया। प्रारंभिक वर्षों में बैंकों का संचालन भारतीय कम्पनी अधिनियम 191 द्वारा किया जाता था, इसके बाद तदर्थ अधिनियम बनाए गए जैसे बैंकिंग कंपनी (निरीक्षण) अध्यादेश, 1946 तथा बैंकिंग कंपनी (शाखा - प्रतिबंध) अधिकाधिक दबावकारी हो गया । फलस्वरूप, एक विशेष विधान जिसे बैंकिंग कंपनी अधिनियम कहा गया गया, मार्च 1949 को पारित किया गया जिसे मार्च 1966 में बैंककारी विनियमन अधिनियम का नया नाम दिया गया।

III. भारतीय रिज़र्व बैंक की विकासात्मक भूमिका

अनेक विकासशील देशों की तरह, केंद्रीय बैंक को अर्थव्यवस्था में विकास और वृद्धि लाने के लिए मुख्य संस्था के रूप में देखा जाता है। आजादी से पहले रिज़र्व बैंक के प्रारंभिक वर्षों में बैंकों का नेटवर्क बहुत कम फैलाव लिए हुए था और वह भी बंटा हुआ था। विदेशी बैंक विदेशी फर्मों, ब्रिटिश सेना और सिविल सेवा को सेवा प्रदान करते थे। घरेलू और

भारतीय बैंक, घरेलू कारोबारी समूहों और मैनेजिंग एजेंसियों से जुड़े हुए थे और मुख्य रूप से अपने ही समूहों के साथ कारोबार करते थे। ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थागत उधार देनेवाली सेवाएं बहुत खराब थीं, हालांकि सहकारिता का आंदोलन भी चला था। समग्र वित्तीय मध्यस्थन की प्रणाली बहुत कमजोर थी। कृषि प्रमुख अर्थव्यवस्था में, जहां तीन चौथाई से ज्यादा जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती थी और सघउ में आधे से ज्यादा का योगदान करती थी, अतः कृषि ऋण एक निरंतर और स्वाभाविक चिंता बनी हुई थी। अतः ग्रामीण ऋण प्रणाली तंत्र की जांच करने के लिए लगभग प्रत्येक कुछ सालों बाद एक समिति बनायी जाती थी। एक सौ वर्षों के दौरान प्रत्येक दो या तीन वर्षों में शायद एक समिति बनाई जाती रही।

भारतीय रिज़र्व बैंक की विकासात्मक भूमिका का स्पष्ट उद्देश्य था - दक्ष वित्तीय मध्यस्थन तथा एक सुविकसित पूंजी बाजार के अभाव में बचतों के अनुपात को बढ़ाया जाए ताकि वृद्धि के लिए आवश्यक निवेश किए जा सकें। विचार यह था कि गरीब लोग बचत करने में असमर्थ थे और जो लोग धनवान थे, उनका अनुपात काफी कम था, तो देश में बचतों और निवेश की प्रक्रिया शुरू करने का एकमात्र तरीका था कि सरकार ही ये दोनों कार्य करे। इस प्रकार भारतीय रिज़र्व बैंक की यह वैध भूमिका हो गई कि वह अनेक विशेषीकृत संस्थाएं कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में शुरू करने में तथा मीयादी वित्त की सुविधाओं को व्यापक बनाने और बचतों को संस्थागत बनाने के लिए सरकार की मदद करें। 1956 में दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू होने के साथ, विशेषकर, औद्योगिक निवेश को तेज करने के लिए, एक खास आवश्यकता महसूस की गई। बाद में समय के साथ-साथ भारतीय रिज़र्व बैंक की अलग-अलग भूमिका के साथ अनेक मीयादी ऋणदात्री औद्योगिक वित्त संस्थान शुरू किए गए, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (आइएफसीआई), राज्य वित्त निगम (एसएफसी), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, (आईडीबीआई) तथा भारतीय औद्योगिक ऋण एवं निवेश निगम (आइसीआइसीआइ) ।

कृषि ऋण के बारे में परम्परागत चिंता बनी ही रही और 1963 में कृषि वित्त निगम की स्थापना की गई। बाद में इसे 1982 में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक के रूप में बदल दिया गया जिससे कृषि को अल्पावधिक मध्यावधिक और दीर्घावधिक वित्त प्रदान किया जा सके। व्यापक जनता से निधियां जुटाने तथा खुदरा निवेशकों को पूंजी बाजार में निवेश करने के लिए अवसर प्रदान करने और इसके द्वारा पूंजी बाजार का भी विकास करने के लिए 1964 में भारतीय यूनिट ट्रस्ट की स्थापना की गई। 1980 के बाद में दशक के अंत में आवास वित्त का विकास करने के लिए राष्ट्रीय आवास बैंक और बुनियादी संरचना के वित्तपोषण के लिए 1990 के बाद के दशक के अंत में बुनियादी संरचना विकास वित्त कंपनी (आइडीएफसी) का गठन किया गया। स्वयं रिज़र्व बैंक ने भी सरकारी प्रतिभूति बाजार के विकास में सहायता करने के लिए सक्रिय रूप से वित्तीय संस्थाओं को प्रोन्नत किया। 1988 में भारतीय मितिकाटा और वित्त गृह लि. (डीएफएचआइ) की स्थापना की गई। 1990 के बाद के दशक के अंत में प्राथमिक व्यापारी प्रोन्नत किए गए। ऋण लिखतों के समाशोधन और निपटान तथा विदेशी मुद्रा विनिमय संबंधी लेनदेनों के संबंध में वित्तीय बुनियादी संरचना को उन्नत बनाने के लिए 2001 में भारतीय समाशोधन निगम का गठन किया गया। अभी हाल ही में भुगतान एवं निपटान प्रणाली हेतु विनियमन और पर्यवेक्षण बोर्ड का गठन 2005 में किया गया तथा बैंक के ग्राहकों के साथ ईमानदारीपूर्ण (उचित) व्यवहार के लिए व्यापक आचार संहिता के विकास के लिए 2006 में भारतीय बैंकिंग आचार और मानक बोर्ड का गठन किया गया। अलग-अलग स्तर की सहभागिता तथा इक्विटी के रूप में योगदान तथा ऋण व्यवस्था का विस्तार करके इन संस्थाओं के गठन और सहायता करने के लिए भारतीय रिज़र्व बैंक निरंतर रूप से जुड़ा रहा है।

इस प्रकार, भारतीय रिज़र्व बैंक की विकासात्मक भूमिका आजादी के बाद से सभी दशकों तक फैली रही है तथा इसकी भूमिका विकसित देशों के केंद्रीय बैंकों से बिल्कुल भिन्न रही है। हालांकि रिज़र्व बैंक इन अनेक संस्थाओं के गठन में सक्रिय रूप से जुड़ा रहा है। परंतु सामान्य परंपरा यह रही है कि जैसे ही ये संस्थाएं विकसित हो जाती हैं या उनके साथ हितों के टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है तो यह उन्हें अपने से अलग कर देता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इन संस्थाओं की स्थापना ने देश में वित्तीय विकास में भारी योगदान किया है, फिर भी इनमें से कुछ संस्थान अपनी कार्य प्रणाली में अपेक्षाकृत कम सफल रहे हैं। वास्तव में, यह तर्क दिया जा सकता है कि इसी प्रकार का संस्थागत विकास निजी क्षेत्र के प्रयासों द्वारा या सरकार द्वारा भी किया जा सकता था। तथापि, रिज़र्व बैंक के पास उपलब्ध वित्तीय क्षेत्र की विशेषज्ञता रिज़र्व बैंक द्वारा वर्षों से किए जा रहे इन कार्यों में इसका माध्यम बनी।

बैंकिंग का विस्तार

भारतीय रिज़र्व बैंक के प्रारंभिक वर्षों में बैंकिंग प्रणाली के विस्तार में काफी प्रगति की गई थी, फिर भी, जरूरतमंदों के लिए बैंकिंग की समग्र उपलब्धता निरंतर चिंताएं बनी रहीं। व्याप्ति की दृष्टि से, अनेक ग्रामीण और अर्धशहरी क्षेत्र अभी भी बैंकिंग सेवाओं के अंतर्गत लाए जाने थे, जुलाई 1955 में इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया का भारतीय स्टेट बैंक के रूप में रूपांतरण मुख्यतः बैंकिंग गतिविधियों को बढ़ाने के लिए सारे देश में शाखाओं का विस्तार करने की इच्छा से प्रेरित था। विकासशील अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसी नीति की निरंतरता में 1969 में 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया उसके बाद 1980 में छह और बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया । राष्ट्रीकृत बैंकों ने मुख्यतः राष्ट्रीय चिंताओं और मानदंडों के अनुरूप बैंकिंग गतिविधियों को बढ़ाने के लिए प्रयास किए, क्योंकि यह माना गया था कि निजी बैंक न तो सामाजिक दायित्वों को समझते हैं और न ही सामाजिक दायित्वों का पालन करते हैं। 1950, 1960 और 1970 के बाद के दशकों में आम प्रवृत्ति अनिवार्यतः यही रही कि सरकार आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय हो जाए जहां यह अनुभव किया गया कि निजी क्षेत्र या तो इच्छुक नहीं है या

समर्थ नहीं है कि वह सक्रिय रूप से कार्य करे। राष्ट्रीकरण के फलस्वरूप, शाखाओं की कुल संख्या जो 1969 में 8,262 थी, 1991 में बढ़कर 60,220 हो गई, और ग्रामीण क्षेत्रों में 1,833 से बढ़कर 35,206 हो गई। शाखाओं के बढ़ते हुए नेटवर्क ने निश्चित रूप से ग्रामीण ऋण का भारी सीमा तक विस्तार किया। राष्ट्रीकरण और विस्तार के इस आयाम ने भारतीय रिज़र्व बैंक की कार्यप्रणाली और कार्यपद्धति को प्रभावित किया है। इस विशाल विस्तार के बावजूद, यह रुचिकर है कि हम अभी भी वित्तीय समावेश के लिए चिंतित हैं।

भुगतान प्रणालियों का विकास

भुगतान प्रणाली का विकास ऐसी विकासात्मक भूमिका है जो अधिकांश केंद्रीय बैंकों में आम तौर पर पाई जाती है। यह भलीभांति स्वीकार किया गया है कि आधुनिक वित्तीय प्रणाली के सुचारू रूप से काम करने के लिए एक दक्ष भुगतान और निपटान प्रणाली अनिवार्य है। अतः हाल के वर्षों में बैंक अधुनातम प्रौद्योगिकी का उपयोग करते हुए भुगतान और निपटान प्रणालियों का उन्नयन करने का प्रयत्न करते रहे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था की एक विशेषता ऐतिहासिक रूप से, अधिकांश वित्तीय लेनदेनों के निपटान में नकदी का व्यापक उपयोग है। जहां अनेक वर्षों तक यही प्रवृत्ति रही है, यह उल्लेखनीय है कि भारत ने काफी पहले से गैर नकदी आधारित भुगतान प्रणालियों का उपयोग करने में अग्रणी भूमिका निभाई जिन्होंने अब व्यापार और कारोबार के संचालन के लिए सुदृढ़ लिखतों के रूप में अपने आप को स्थापित कर लिया है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऋण लिखत का रूप, जो भारत में विकसित हुआ, उसे 'हुंडी' का नाम दिया गया और उनके प्रयोग बारहवीं शताब्दी से प्रचलित हैं। 'हुंडियों' को धन के प्रेषण, ऋण और व्यापार के लेनदेन के रूप मे प्रयोग में लाया जाता था।

आधुनिक समय में, बैंकिंग प्रणाली के विकास तथा चेकों की मात्रा में उच्चतर कुल कारोबार होने के कारण एक संगठित चेक समाशोधन प्रणाली की आवश्यकता उभरी। भारत में, 19वीं शताब्दी में प्रेसीडेंसी शहरों में समाशोधन संघ बनाए गए और सदस्य बैंकों के बीच अंतिम निपटान प्रेसीडेंसी बैंकों पर चेक काटकर किया जाता था । 1921 में इम्पीरियल बैंक की स्थापना के साथ ये निपटान उस बैंक पर चेक काटकर किए जाते थे। 1935 में भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद, प्रेसीडेंसी शहरों के समाशोधन गृहों को भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा अधिग्रहण कर लिया गया, और यह कार्य भारतीय रिज़र्व बैंक पांच दशकों से ज्यादा समय से कर रहा है।

भुगतान और निपटान प्रणालियों की महत्ता को मानते हुए एक दशक पहले भारतीय रिज़र्व बैंक ने एक सुरक्षित, दक्ष और सुदृढ़ भुगतान और निपटान प्रणाली की स्थापना का कार्य अपने ऊपर ले लिया था। कुछ समय पहले से भारतीय रिज़र्व बैंक भुगतान और निपटान प्रणाली के क्षेत्र में सुधार के लिए जोर देता रहा है। इसी उद्देश्य से तत्काल सकल निपटान प्रणाली (आरटीजीएस) की योजना बनाई गई, जो मार्च 2004 से परिचालन में लाई गई। अपने वर्तमान स्वरूप में यह प्रणाली पूर्णतः परिचालन में आ जाने के बाद यह सभी प्रकार के अंतरबैंक लेनदेनों को संभाल लेगी तथा जल्दी ही इसमें और भी पहलू जोड़े जाएंगे।

वित्तीय क्षेत्र में सुधारों को मिली सकारात्मक प्रतिक्रियाओं को देखते हुए और अब जबकि बैंकिंग घटक भी समय के हिसाब से आगे बढ़ रहा है, भारतीय रिज़र्व बैंक ने अब खुदरा भुगतान और निपटान प्रणालियों के वास्तविक प्रबंधन से अपने आपको हटाने की नीति बनाई है। इस प्रकार अब से कुछ वर्षों में, नए माइकर आधारित चेक प्रसंस्करण केंद्रों की स्थापना का कार्य वाणिज्यिक बैंकों को सौंप दिया जाएगा। इस दृष्टिकोण के अच्छे परिणाम निकले हैं और भारतीय रिज़र्व बैंक अब सामान्य प्रसंस्करण के कार्य व्यावसायिक संगठनों द्वारा प्रबंधित और परिचालित किए जाने की कल्पना कर रहा है जो वाणिज्यिक बैंकों द्वारा सहभागिता द्वारा गठित किया जाएगा। यह समाशोधन गृहों पर भी लागू होगा जो समाशोधन संबंधी कार्य करेंगे, परंतु निपटान संबंधी कार्य भारतीय रिज़र्व बैंक के पास ही रहेगा। मुद्रा, सरकारी प्रतिभूतियों और विदेशी मुद्रा बाजारों से संबंधित समाशोधन प्रक्रिया करने के लिए भारतीय समाशोधन निगम लि. द्वारा किए गए परिचालनों के रूप में इसकी शुरुआत कर दी गई है। इस व्यवस्था के अंतर्गत भारतीय रिज़र्व बैंक ने सेवा प्रदाता के रूप में इसकी शुरुआत कर दी है। इस व्यवस्था के अंतर्गत भारतीय रिज़र्व बैंक सेवा प्रदाता के रूप में वास्तव में कार्य न करते हुए भी इन कार्यों पर विनियामक निगरानी करना जारी रखेगा। आरटीजीएस जो कम जोखिम के साथ इलैक्ट्रोनिक तरीके से सभी सहभागियों को निधियों के अंतरण के लिए सुविधा उपलब्ध कराता है, भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा परिचालित किया जाना जारी रहेगा।

IV. भारतीय रिज़र्व बैंक के सरकार के साथ संबंध

भारतीय रिज़र्व बैंक सांविधिक रूप से केंद्र सरकार का तथा विशेष करारों के अंतर्गत उनमें से प्रत्येक राज्य सरकार का बैंकर है। भारतीय रिज़र्व बैंक की स्वायत्तता की हानि जो प्रारम्भिक दशकों में हुई थी, वह केंद्रीय बैंक और सरकार के बीच संबंधों की किसी चालू वर्तमान सोच पर आधारित सचेत निर्णय के कारण नहीं थी, बल्कि संपूर्ण अर्थव्यवस्था में सरकार की उपयुक्त प्रधान भूमिका के संबंध में उस समय प्रचलित समग्र आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप थी। अतः यह उपयोगी है कि अब वर्षों से विकसित सरकार के साथ रिज़र्व बैंक के संबंधों की समीक्षा की जाए।

मौद्रिक राजकोषीय संबंध

विकासशील देशों में केंद्रीय बैंकों के लिए यह आम बात है कि वे अपनी-अपनी सरकारों के लिए ऋण प्रबंधक के रूप में कार्य करें। केंद्रीय बैंक विशेषकर सरकारों का वित्तपोषण मौद्रीकरण द्वारा करते रहे हैं। जब भी विस्तारकारी राजकोषीय नीति की जरूरत हुई और जो अकसर विकासशील देशों में होती है केन्द्रीय बैंकों ने मौद्रीकरण द्वारा विशेष रूप से सरकार को वित्त प्रदान किया है। विकसित देशों में मौद्रीकरण द्वारा

युद्ध के वित्तपोषण करने का भी मानदंड रहा है। इस प्रकार के वित्तपोषण से सामान्यतया अर्थव्यवस्था के लिए प्रत्याशित मुद्रास्फीतिकारी परिणाम होते ही हैं । भारत का अनुभव भी इससे भिन्न नहीं रहा है और मुद्रास्फीतिकारी नीति का उपयोग वस्तुतः स्वतः मौद्रीकरण का रास्ता अपना कर वित्तपोषण करने में किया गया। साथ ही, इससे मौद्रिक नीति के संबंध में वित्तीय दबाव और केंद्रीय बैंक की स्वायत्तता की प्रभावी हानि हुई।

1951 में, आर्थिक आयोजना शुरू किए जाने के साथ ही, भारतीय रिज़र्व बैंक के कार्य अधिक विशाखीकृत हो गए। एक ऐसे विशिष्ट विकासशील देश, जो शताब्दियों पुराने उपनिदेशवादी शासन से मुक्त हुआ हो, के केंद्रीय बैंक के रूप में, भारतीय रिज़र्व बैंक को राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में शामिल होना पड़ा। राजकोषीय नीति ने भारी सार्वजनिक निवेश के माध्यम से, जिसे निभावपरक मौद्रिक तथा अनुकूल ऋण प्रबंध नीतियों द्वारा सुविधाजनक बनाया गया, आर्थिक वृद्धि की प्रक्रिया को तेज करने का उत्तरदायित्व लिया। भारतीय रिज़र्व बैंक ने सरकार के ऋणों का मौद्रीकरण करके तथा सरकार की उधारियों की लागत को कम करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज दरों को कृत्रिम रूप से निम्न स्तरों पर रखकर योजना के वित्तपोषण में सरकार के संसाधन अंतराल को पाटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारतीय रिज़र्व बैंक अधिनियम, 1934 के प्रावधान भारतीय रिज़र्व बैंक को प्राधिकृत करते हैं कि वह सरकार को अग्रिम मंजूर करे जो अग्रिम देने की तारीख से तीन माह के अंदर चुकौतीयोग्य हों। ये अग्रिम सिद्धांततः सरकार की प्राप्तियों और व्ययों के बीच आई अस्थायी विसंगति को पूरा करने के लिए थे, और मुख्यतः सरकार के नकदी प्रबंधन के साधन थे। तथापि व्यवहार में अल्पावधिक वित्तपोषण के ये साधन जब भी भारतीय रिज़र्व बैंक के पास सरकार की जमा शेष राशि न्यूनतम निर्धारित शेष के स्तर से कम हो जाती, तो तदर्थ खजाना बिलों के सृजन के माध्यम से सरकार के लिए निधियों के स्थायी साधन बन गए। इस स्वतः मौद्रीकरण से रिज़र्व मुद्रा के सृजन पर से भारतीय रिज़र्व बैंक का नियंत्रण चला गया। इसके अलावा, भारतीय रिज़र्व बैंक ने भी तदर्थ खजाना बिलों का सृजन किया, जबभी सरकार द्वारा निधियों की आवश्यकता होती। चूंकि राजकोषीय घाटे का अनियंत्रित रूप से विस्तार हुआ और सरकार खजाना बिलों को चुकाने की स्थिति में नहीं थी, अतः रिज़र्व बैंक के पास इन बिलों की भारी मात्रा इकट्ठी हो गई जो मौद्रीकृत घाटे का काफी बड़ा भाग बन गए थे। यह प्रक्रिया 1950 के बाद के दशक से 1990 के बाद के दशक तक जारी रही।

1980 के बाद के दशक के अंत तक आते-आते राजकोषीय मौद्रिक मुद्रास्फीति का अंतरसंबध उत्तरोत्तर साक्ष्य के रूप में उभर कर आया जिसके द्वारा राजकोषीय घाटे के मौद्रीकरण की वजह से अत्यधिक मौद्रिक विस्तार ने मुद्रास्फीति को बढ़ा दिया। भारतीय रिज़र्व बैंक ने यह प्रयास किया कि बैंकों द्वारा रखी जानेवाली अपेक्षित प्रारक्षित निधियों के अनुपातों को बढ़ाकर बजटीय असंतुलनों के मौद्रिक प्रभाव को सीमित किया जाए। चूंकि पूर्व अधिगृहीत संसाधनों की वृद्धि सरकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त थी, अतः डाकघर बचतों और भविष्य निधियों के माध्यम से, उन पर पर्याप्त राजकोषीय प्रोत्साहन देकर तथा ब्याज की नियंत्रित कम दरें रखकर, आबद्ध बाजार के बाहर से निधियां उधार लेने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस प्रकार अर्थव्यवस्था को वित्तीय दमन की पीड़ा की ओर धकेल दिया गया।

यहां तार्किक प्रश्न यह उठता है कि यदि भारत में ऋण प्रबंधन मौद्रिक प्रबंधन से अलग हुआ होता तो क्या मौद्रिक नीति पर राजकोषीय प्रभुत्व का यह अनुभव अलग तरह का रहा होता ? या क्या हम रिज़र्व बैंक में बैठकर दोनों कार्यों को बेहतर ढंग से कर पाते? वस्तुतः जो हुआ है, वह यह है कि 1990 के बाद के दशक के प्रारंभ के वर्षों के दौरान समग्र आर्थिक नीति के संबंध में सोच में एक खास परिवर्तन आया जिसमें अर्थव्यवस्था में सरकार की प्रत्यक्ष भूमिका को कम करने का तर्क दिया गया। राजकोषीय स्थिरीकरण लाने तथा राजकोषीय घाटे को कम करने के पक्ष में एक सर्वसम्मति उभरी, जिसका उद्देश्य था - राजकोषीय घाटे को स्वतः मौद्रीकरण द्वारा वित्तपोषित करने की पूर्व परंपरा के माध्यम से मौद्रिक नीति के ऊपर राजकोषीय नीति के प्रभुत्व को खत्म करना। यही समग्र आर्थिक नीति का रूपांतरण है जिसने 1990 के बाद के दशक में मौद्रिक नीति के निर्माण में महत्तर स्वायत्तता प्रदान की।

1991 में शुरू किए गए वित्तीय क्षेत्र के सुधारों के अनुसरण में राजकोषीय घाटे को कम करने के सक्रिय प्रयासों और 1990 के बाद के प्रारंभिक वर्षों में मुद्रा आपूर्ति की मात्रा को सीमित करने के प्रयासों के बावजूद, तदर्थ खजाना बिलों के जारी रहने का अर्थ यह निहित था कि मौद्रीकृत घाटे पर कोई भी तत्काल नियंत्रण नहीं होगा। राजकोषीय घाटों के इस बेलगाम स्वतः मौद्रीकरण को रोकने के लिए 9 सितंबर 1994 को भारतीय रिज़र्व बैंक और भारत सरकार के साथ प्रथम अनुपूरक करार हुआ जिसमें मार्च 1997 को समाप्त तीन वर्ष की अवधि के दौरान तदर्थ खजाना बिलों के सृजन के लिए सीमाओं की एक प्रणाली निर्धारित की गई। 6 मार्च 1997 को भारतीय रिज़र्व बैंक और भारत सरकार के बीच हुए दूसरे अनुपूरक करार के अनुसरण में बकाया तदर्थ खजाना बिलों की राशि को विशेष अदिनांकित प्रतिभूतियों में बदलकर तदर्थ खजाना बिलों को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया और उनका स्थान अर्थोपाय अग्रिमों की एक प्रणाली ने ले लिया। राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबंध अधिनियम, 2003 (एफआरबीएम) के प्रावधानों के अंतर्गत 1 अप्रैल 2006 से सरकार की प्राथमिक नीलामियों में रिज़र्व बैंक ने भाग लेना भी बंद कर दिया। 1991 से शुरू किए गए अन्य संबंधित मुद्दे थे - ब्याज दरों का अपविनियमन और सांविधिक अनुपातों को कम करना।

भारतीय अर्थव्यवस्था ने अपने वित्तीय बाजारों, विशेषकर, सरकारी प्रतिभूति बाजार के विकास में 1991 से काफी प्रगति कर ली है। इसके अलावा, मौद्रिक नीति के निर्माण में राजकोषीय प्रभुत्व हाल के वर्षों काफी कम हुआ है। राजकोषीय समेकन की प्रक्रिया शुरू करने, भारतीय रिज़र्व बैंक के सरकारी प्रतिभूतियों के प्राथमिक बाजार से हटने, तथा प्रत्याशित

वैधानिक परिवर्तनों द्वारा सांविधिक रूप से अपेक्षित सांविधिक चलनिधि अनुपात में कमी लाकर राजकोषीय प्रभुत्व को और कम किया जाएगा।

रिज़र्व बैंक द्वारा ऋण का प्रबंधन किए जाने के बावजूद ये सभी परिवर्तन हुए। इस प्रकार यह तर्क दिया जा सकता है कि ऋण प्रबंधन से मौद्रिक नीति को प्रभावी रूप से पृथक् करना संस्थागत व्यवस्थाओं पर एक विशेष दृष्टिकोण को अपनाने की अपेक्षा समग्र आर्थिक नीतिगत सोच का परिणाम अधिक है।

मौद्रिक नीति और लोक ऋण प्रबंधन के बीच हितों के टकराव का मूल मुद्दा इस तथ्य में निहित है कि जहां सरकार के लिए बाजार से उधार की लागत को न्यूनतम रखने का उद्देश्य ब्याज दरों को निम्न रखने का दबाव डालता है, वहीं बढ़ती हुई स्फीतिकारी प्रत्याशाओं के बीच मौद्रिक नीति के दबाव कठोर मैद्रिक अपनाने के लिए आवश्यकता को जन्म देते हैं । अतः ऋण प्रबंधन को मौद्रिक नीति से पृथक् करने के पक्ष में तर्क केंद्रीय बैंक की प्रभावी स्वायत्तता की उपलब्धता पर निर्भर करता है ताकि वह सरकार के विस्तारकारी राजकोषीय बल के बावजूद एक पूर्णतः स्वतंत्र मौद्रिक नीति का संचालन कर सके।

परंतु क्या यह वास्तविक रूप से व्यवहार्य है? यदि नीति निर्माताओं के बीच यह समझ हो कि विस्तारकारी राजकोषीय नीति, जो मौद्रीकरण द्वारा वित्तपोषित होती है, अवांछनीय परिणामों की ओर ले जाती है तो क्या ऐसी नीति का अनुसरण किया जाएगा? स्वयं भारत के अनुभव ने यह दर्शाया है, क्योंकि इस सचाई को 1990 के दशक में स्वीकार कर लिया गया था, अतः नीतिगत उत्तर भी सरकार और रिज़र्व बैंक के बीच सहमति से आना था जिससे भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा ऋण प्रबंधन का कार्य रिज़र्व बैंक के अंदर ही जारी रखे जाने के बावजूद स्वतंत्र मौद्रिक नीति बनाने की परम्परा अपनाने में समर्थ बनाया।

सिद्धांत रूप में दोनों कार्यों के बीच पृथकीकरण शायद मौद्रिक नीति के निर्माण तथा ऋण प्रबंधन में दक्षता ला सके, परंतु भारत के संदर्भ में, राजकोषीय मौद्रिक संबंध के कुछ मुख्य सिद्धांतों को समझने की जरूरत है। पहला, भारत में, सरकार और भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा संयुक्त रूप से नीति संबंधी पहलों ने लोक ऋण के प्रबंधन और मौद्रिक नीति के निर्माण के बीच बेहतर समन्वय को सुविधाजनक बनाया है। जबकि राजकोषीय अनुशासन तथा मौद्रिक घाटे में कमी लाने के प्रति वचनबद्धता ने मौद्रिक नीति के परिचालन को पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान की है, भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा सक्रिय रूप से ऋण प्रबंधन ने भी मौद्रिक नीति के संचालन को सुविधाजनक बनाया है, विशेषकर अप्रत्यक्ष लिखतों द्वारा । वास्तव में, भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा धारित सरकारी प्रतिभूतियों के काफी बड़ा स्टॉक ने इसे इस योग्य बनाया कि वह 1990 के बाद के दशक के अंतिम वर्षों से खुले बाजार के परिचालनों द्वारा पूंजी आगम के मौद्रिक प्रभाव को निष्प्रभावी कर सके। हाल के वर्षों में ब्याज दर चक्र के उलट जाने के साथ बैंकों के तुलनपत्रों के संरक्षण के लिए भारतीय रिज़र्व बैंक आस्तियों पर उच्चतर जोखिम भार का निर्धारण कर सका। इस कदम ने निश्चित रूप से अर्थव्यवस्था के लिए वित्तीय स्थिरता सुनिश्चित की। दूसरे, वर्षों से लोक ऋण का प्रबंध करने में भारतीय रिज़र्व बैंक के अनुभव ने इसे सरकार और बाजार की स्थितियों की अपेक्षाओं के अनुसार ऋण और मौद्रिक दोनों प्रकार के प्रबंधन के दोहरे उत्तरदायित्व को दक्षतापूर्वक पूरा करने के लिए अपेक्षित तकनीकी क्षमता से युक्त बना दिया है। भारतीय रिज़र्व बैंक 1988 से मुद्रा और सरकारी प्रतिभूति बाजार को विकसित करने का प्रयत्न करता रहा है तथा संबंधित बाजारों के संबंध में उसने मूल्यवान अनुभव और जानकारी प्राप्त कर ली है। यह कार्य करना कठिन होता यदि ऋण प्रबंधन के कार्य को प्रभावी रूप से पृथक् कर दिया गया होता। तीसरे, अगले पांच वर्षों में भारतीय राजकोषीय प्रणाली में कई उल्लेखनीय सुधार होने हैं । बारहवें वित्त आयोग की सिफारिशों को परिचालन में लाना, जिसके अनुसार केंद्र राज्यों के लिए संसाधन जुटाने के मध्यस्थन के कार्यों को करना बंद कर देगा और राज्यों को सीधे बाजार से निधियां जुटानी होंगी। 1 अप्रैल 2006 से सरकारी प्रतिभूतियों के प्राथमिक बाजार से भारतीय रिज़र्व बैंक के हटने का तात्पर्य है - ब्याज दर अपेक्षाओं का प्रबंधन करना तथा बैंककारी विनियमन अधिनियम में प्रस्तावित संशोधन को लागू करना जिसमें यह प्रावधान है कि भारतीय रिज़र्व बैंक सांविधिक चलनिधि अनुपात को कम करने के लिए उनका स्तर बैंकों की निवल मांग और मीयादी देयताओं के 25 से भी कम कर सकता है। यह सरकारी प्रतिभूतियों के लिए आबद्ध अंशदान को कम कर देगा।

निकट भविष्य में मौद्रिक राजकोषीय परिवेश में होनेवाले इन परिवर्तनों के साथ भारतीय रिज़र्व बैंक और सरकार के बीच ऋण प्रबंधन के लिए उच्चस्तरीय समन्वय के बने रहने की जरूरत होगी। वस्तुतः अमरीका में हालांकि ऋण का प्रबंधन औपचारिक रूप से ट्रेजरी (सरकारी कोषागार) द्वारा किया जाता है, फिर भी फेडरल रिज़र्व बैंक ऑफ न्यूयार्क तथा ट्रेजरी के बीच जो घनिष्ठ सहयोग है वह कार्य की दृष्टि से अपने ऋण प्रबंध संबंधी कार्य में भारतीय रिज़र्व बैंक और सरकार के बीच के संबंधों से बहुत ज्यादा भिन्न नहीं है।

अतः हमारे अनुभवों का विकास इस स्थिति का समर्थन करता है कि देश विशेष के विशिष्ट संस्थागत संदर्भ को ध्यान में रखते हुए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण बनाने की जरूरत है।

विनियमन और पर्यवेक्षण

सामान्यतया केंद्रीय बैंक और सरकार के बीच संबंधों के संदर्भ में बैंकों के विनियमन और पर्यवेक्षण पर बहुत कम चर्चा की गुंजाइश है। भारत में यह मुद्दा इसलिए उठता है क्योंकि 1969 और 1980 में बैंकों के राष्ट्रीकरण के बाद बैंकों में सरकार का प्रमुख स्वामित्व बना हुआ है। 1990 के बाद के दशक तक 90 प्रतिशत से अधिक बैंक आस्तियां सरकार द्वारा धारित बैंकों में थीं । इस प्रकार की संस्थागत संरचना में यह अवधारणा थी कि बैंक फेल नहीं हो सकते तथा जमाकर्ता प्रभावी रूप से सुरक्षित हैं।

इसके अलावा, प्रबंध-तंत्र संबंधी सभी नियुक्तियों की शक्तियां सरकार के पास हैं अतः सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में कंपनी संचालन के मानदंड

भी। इसके अतिरिक्त नियंत्रित जमा और उधार की दरों की उपस्थिति में, ऋण का आबंटन और अन्य बैंकिंग संबंधी निर्णय सरकार के पास हैं, बैंकों का विनियमन और पर्यवेक्षण भी 1970 और 1980 के बाद के दशकों के दौरान प्रभावी रूप से सरकार के वश में आ गया।

एक बार पुनः, 1991 में बैंकिंग की नीति में परिवर्तन के बाद ही ब्याज दरों के अपविनियमन, तथा ऋण आबंटन की समाप्ति के साथ प्रतिस्पर्धा पर जोर देते हुए रिज़र्व बैंक द्वारा बैंकों का विनियमन और पर्यवेक्षण प्रभावी हो सका।

नए निजी बैंकों के आने से बढ़ी प्रतिस्पर्धा की शुरुआत तथा विदेशी बैंकों का विस्तार, साथ ही निजी और सार्वजनिक बैंकों के साथ एक समान विनियामक व्यवस्था की शुरुआत ही थी, जिसने आधुनिक विनियमन और पर्यवेक्षण की प्रथा को अपनाना आवश्यक बना दिया। बैंकिंग प्रणाली की सुरक्षा और सुदृढ़ता के संवर्धन तथा जमाकर्ताओं के हितों का संरक्षण दुबारा प्रासंगिक हो गया।

विनियामक प्राधिकारियों द्वारा वित्तीय विनियमन और पर्यवेक्षण का मुख्य औचित्य सर्वांगीण जोखिम को रोकना, वित्तीय संकटों से बचाव करना, जमाकर्ताओं के हितों की सुरक्षा तथा जमाकर्ताओं और वित्तीय संस्थाओं के बीच सूचना की असमानता को कम करना है। बैंकिंग के कारोबार में अनेक ऐसी विशेषताएं हैं जो अस्थिरता पैदा करने की क्षमता रखती हैं। क्योंकि बैंक अन्य फर्मों की अपेक्षा अधिक शक्ति सुविधा प्राप्त हैं क्योंकि उनके पास जनता से जमाराशियां जुटाने की क्षमता है। अतः एक ऐसी एजेंसी स्थापित करने की आवश्यकता, जो बैंकिंग का विनियमन और पर्यवेक्षण कर सके, इसलिए उठी, क्योंकि विभिन्न देशों में बैंक बार-बार असफल हो रहे थे। जो सारी अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से केंद्रीय बैंकों ने अपना ध्यान वित्तीय स्थिरता सुनिश्चित करने तथा वित्तीय संकटों को बचाने पर केंद्रित कर दिया। महामंदी के अनुभव का अनेक देशों में बैंकिंग विनियमन पर गहरा प्रभाव पड़ा और तब से वाणिज्यिक बैंकों को क्रमिक रूप से उत्तरोत्तर केंद्रीय बैंकों के विनियमन के अंतर्गत लाया जाता रहा है।

बैंक पर्यवेक्षण का बुनियादी उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि वे अपने जमाकर्ताओं के हितों को कोई खतरा पैदा न करें। पर्यवेक्षण का जोर हाल की अवधि में परम्परागत पूंजी, आस्तियों, प्रबंधन, आय, चलनिधि और ब्याज दर के प्रति संवदेनशीलता (केमल्स) दृष्टिकोण से हटकर एक अधिक जोखिम आधारित दृष्टिकोण की ओर बढ़ता रहा है। बासल-II जिसमें जोखिम विश्लेषण में वित्तीय स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए तीन स्तंभों की संकल्पना का प्रयोग किया गया है -न्यूनतम पूंजी संबंधी अपेक्षाएं, पर्यवेक्षी दृष्टिकोण तथा बाजार अनुशासन।

केंद्रीय बैंकों ने वित्तीय संस्थाओं तथा वाणिज्यिक बैंकों का परंपरागत रूप से विनियमन और पर्यवेक्षण किया है। तथापि चूंकि केंद्रीय बैंक विनियामक भी हैं, और बाजार के सहभागियों के व्यवहार को प्रभावित भी करते हैं, अतः केंद्रीय बैंकों द्वारा किया गया पर्यवेक्षण नैतिक संकट संबंधी समस्या खड़ी कर सकते हैं। इसलिए हाल के वर्षों में एक पृथक् पर्यवेक्षण प्राधिकारी होने के विचार को कुछ गति मिली है। इसके अलावा, केंद्रीय बैंक में रहते हुए मैं मौद्रिक नीति तथा विनियमन और पर्यवेक्षण के बीच विशेषकर आर्थिक और वित्तीय तनाव की स्थितियों में टकराव की स्थितियों की परिकल्पना कर सकता हूं। इस संघर्ष का एक उदाहरण देता हूं - किसी देश में बढ़ते हुए स्फीतिकारी दबाव ब्याज दरों के तेजी से बढ़ने की अपेक्षा कर सकते हैं, परंतु वहीं बैंक काफी सीमा तक अपने आस्ति मूल्यों को घटाने के लिए विवश हो जाएंगे।

इस बदलते परिवेश में भारतीय रिज़र्व बैंक की भूमिका भारतीय बैंकिंग प्रणाली के विभिन्न घटकों के बीच अंतरों को मान्यता देती है, और उनका विनियमन करते समय उपयुक्त नमनीयता सहित उन्हें आत्मसात करती है। भारतीय रिज़र्व बैंक की वित्तीय विनियमन और पर्यवेक्षण की बदलती हुई भूमिका की विशेषता यह मानी जा सकती है कि इसमें व्यष्टि विनियमन पर कम ध्यान दिया गया है, परंतु 'विवेकसम्मत' पर्यवेक्षण पर तथा जोखिम के आकलन और उसको सीमित रखने पर अधिक ध्यान दिया गया है। बैंकिंग क्षेत्र के सुधारों में भारतीय रवैया 'क्रमिक' का रहा है जो अन्य अनेक उदीयमान बाजारी अर्थव्यवस्थाओं से भिन्न है। जहां वित्तीय क्षेत्र के सुधारों का परिणाम अब तक सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय मध्यस्थक संस्थाओं को निजीकरण के रूप में हुआ। चूंकि वाणिज्यिक बैंकों को बासल II का कार्यान्वयन मार्च 2007 के अंत से शुरू करना है, अतः भारतीय रिज़र्व बैंक पर्यवेक्षी क्षमता निर्माण के उपाय करना जारी रखेगा, ताकि वह अंतरालों को पहचान सके, तथा आकलन कर उस अतिरिक्त पूंजी की मात्रा का निर्धारण कर सके जिसे इन बैंकों द्वारा बनाए रखा जाना है, अपने परिचालनगत और बाजार जोखिमों के कारण। अंतिम, भावी बैंकिंग के लिए समेकन, प्रतिस्पर्धा, और जोखिम प्रबंध की महत्ता को स्वीकार करते हुए भारतीय रिज़र्व बैंक कंपनी संचालन, निजी बैंकों के स्वामित्व के स्वरूप तथा विदेशी बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के विस्तार पर जोर देना जारी रखेगा।

मौद्रिक नीति

1991 से पहले भारत में मौद्रिक नीति के परिचालनों को बैंकों के राष्ट्रीकरण, उस समय प्रचलित वित्तीय दमन तथा आबद्ध अर्थव्यवस्था के संदर्भ में विश्लेषित करना होगा । बैंकों का राष्ट्रीकरण उनकी गतिविधियों पर सामाजिक नियंत्रण रखने के लिए किया गया। परिणाम की दृष्टि से राष्ट्रीकरण बैंकों का फैलाव ग्रामीण क्षेत्रों में करने में, तथा निजी बचतों को जुटाने में सफल रहा । इस प्रकार जुटाई गई बचतों को जनता के लिए उधार देने के लिए तथा अब तक उपेक्षित ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी सच्ची ऋण जरूरतों को पूरा करने के लिए प्रयोग में लाया गया। इसके लिए संस्थागत व्यवस्थाओं में उल्लेखनीय परिवर्तनों तथा बैंकिंग प्रणाली पर और भी अधिक कठोर विनियमन और पर्यवेक्षण की जरूरत थी। ब्याज की निम्न दरों की राजकोषीय अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए ब्याज दरों को नियंत्रित किया गया तथा ऋण को विशेष सामाजिक प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों

688 CMYK

की ओर निर्देशित किया गया। अर्थव्यवस्था आबद्ध थी, विनिमय दरें निश्चित थीं तथा विदेशी मुद्रा नियंत्रणों का कठोरता से पालन किया जाता था। राष्ट्रीकृत बैंकों, राजकोषीय प्रभुत्व तथा वित्तीय दमन की इस स्थिति में मौद्रिक नीति का परिचालन अत्याधिक प्रतिबंधित रहा। मौद्रिक नीति को अपनी परिचालनगत दक्षता केवल 1991 के बाद ही अर्थव्यवस्था के बढ़ते हुए उदारीकरण के साथ पुनः प्राप्त हुई। एक बार पुनः मैं यह दोहराना चाहूंगा कि मौद्रिक नीति की स्वतंत्रता समग्र आर्थिक नीति संबंधी ढांचे में परिवर्तन से जुड़ी है, न कि केंद्रीय बैंक को सरकार से पूर्णतः अलग करने की विचारधारा से।

जैसे ही इस पूर्ववर्ती प्रणाली तंत्र के पलट जाने पर वित्तीय प्रणाली उदारीकृत की गई तथा मौद्रिक नीति अधिक स्वायत्त हो गई, तो मुद्रा बाजार, सरकारी प्रतिभूति बाजार और विदेशी मुद्रा बाजार का तदनुरूपी विकास आवश्यक हो गया। वित्तीय बाजारों की समग्र कार्य प्रणाली में ब्याज दरों और विनिमय दरों के दक्ष मूल्यों की खोज के बिना उपयुक्त मौद्रिक रूपांतरण नहीं हो सकता।

इससे पूर्व, विभिन्न कारकों जैसे नियंत्रित ब्याज दरों, निर्देशित ऋण कार्यक्रमों, कमजोर बैंकिंग संरचना, उचित लेखांकन प्रणाली तथा जोखिम प्रबंध प्रणाली की कमी और वित्तीय बाजार के प्रमुख सहभागियों के परिचालनों में पारदर्शिता की कमी, ने बाजार के विकास में बाधा पहुंचाई थी। रूपांतरण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए अन्य केंद्रीय बैंकों की तरह भारतीय रिज़र्व बैंक ने भी वित्तीय बाजारों, विशेषकर, मुद्रा बाजार, सरकारी प्रतिभूति बाजार और विदेशी मुद्रा बाजारों के विकास में गहरी रुचि ली। मौद्रिक नीति के प्रणाली तंत्र में विदेशी मुद्रा बाजार के साथ उसके संपर्कों के कारण अल्पावधिक चलनिधि प्रवाहों को संतुलित करने के लिए मौद्रिक नीति रिज़र्व बैंक के हस्तक्षेप का मुख्य केंद्र बिंदु है। इसी प्रकार संपूर्ण ऋण बाजार के लिए सरकारी प्रतिभूति बाजार महत्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि यह ऋण बाजार के अन्य लिखतों के लिए मूल्य निर्धारण के लिए आधारचिह्न का कार्य करता है।

भारतीय रिज़र्व बैंक 1986 से मूल्य निर्धारण को सुविधाजनक बनाने के लिए संस्थाओं और बुनियादी संरचना को विकसित करने का कार्य करता रहा है । एक दक्ष, स्थिर और स्वस्थ वित्तीय बाजारों के विकास के लिए भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा किए गए सचेत प्रयासों को महत्व 1991 के बाद ही प्राप्त हुआ । बाजार की व्यष्टिगत संरचना में सुधार लाकर संस्थागत और वित्तीय बुनियादी संरचना का विकास करके बाजारों के विकास को सुविधाजनक बनाने के लिए भारतीय रिज़र्व बैंक ने क्रमिक और सुनिर्धारित नीति का अनुसरण किया। सुधारों की गति उपयुक्त प्रणालियों और प्रक्रियाओं, प्रौद्योगिकी और बाजार संव्यवहारों को अपनाने पर निर्भर थी।

केंद्र सरकार और भारतीय रिज़र्व बैंक के बीच तथा साथ ही विभिन्न विनियामकों के बीच घनिष्ठ सहयोग और समन्वय रहा है जिसने भारत में वित्तीय बाजारों के सुव्यवस्थित और सुचारु विकास में सहायता की। सुधारों के बाद बाजार अब आकार, गहनता और गतिविधियों की दृष्टि से विकसित हो गए हैं। इसने भारतीय रिज़र्व बैंक को अपने उद्देश्यों का अनुसरण करने के लिए अप्रत्यक्ष लिखतों के नमनीय प्रयोग के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय वित्तीय बाजारों का वैश्विक बाजारों के साथ समेकन के संदर्भ में भारतीय रिज़र्व बैंक परिचालनगत प्रक्रियाओं और लिखतों तथा वित्तीय संस्थाओं, बाजारों और वित्तीय बुनियादी संरचना जैसे जोखिम प्रबंध प्रणालियों, आय की पहचान, प्रावधानीकरण मानदंडों, प्रकटीकरण संबंधी मानदंडों, लेखा मानकों तथा ऋणशोधन क्षमताओं की अंतरराष्ट्रीय सर्वोत्तम संव्यवहारों के अनुरूप बनाने के लिए निरंतर प्रयास करता रहा है (मोहन, 2006)।

V. भारतीय रिज़र्व बैंक की स्वायत्तता

केंद्रीय बैंक की स्वायत्तता की ओर प्रवृत्ति कोई नई नहीं हैं। विकास की प्रक्रिया में, वैश्विक रूप से जब केंद्रीय बैंकों की गतिविधियों का दायरा बढ़ाया है, तो केंद्रीय बैंकों की स्वतंत्रता के संबंध में रुझान ने भी एक रोचक मोड़ ले लिया है। प्रथम विश्व युद्ध के पहले अधिकांश मामलों में केंद्रीय बैंक निजी संस्थान थे, और औपचारिक रूप से अपनी-अपनी सरकारों से स्वतंत्र थे। रोचक रूप में, कुछ केंद्रीय बैंकों की स्थापना सरकार के बैंकर तथा ऋण प्रबंधक के रूप में कार्य करने के लिए की गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के आसपास यह स्थिति पलट गई। अनेक देशों में (जैसे जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, जापान, इटली और स्वीडन) केंद्रीय बैंकों को उनकी सरकारों के अधीन कर दिया गया। पुनः हाल के वर्षों में इस के बदलने की प्रवृत्ति रही है। सरकारों ने अपने केंद्रीय बैंकों को अधिक स्वायत्तता देना शुरू कर दिया है। इस तर्क पर कि देश में निम्न मुद्रास्फीति होगी यदि केंद्रीय बैंक स्वतंत्र होगा। इस तर्क की जड़ें 1970 के बाद के प्रारंभिक वर्षों में स्वर्णमान के असफल हो जाने और 1970 और 1980 के बाद के दशकों में आई, उच्च मुद्रास्फीति के चरण में निहित हैं। मूल्य-स्थिरता प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर केंद्रीय बैंकों को स्वायत्तता प्रदान की जाती रही जिनमें मुद्रास्फीति का एक निश्चित लक्ष्य प्राप्त करना था, इसका निहितार्थ था कि इस आजादी के साथ-साथ जबाबदेही भी जुड़ी हुई थी। उदाहरण के लिए बैंक ऑफ इंग्लैंड, जो अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश समय में पर्याप्त रूप से स्वायत्त रहा, परंतु बाद में जिसे सरकार के अधीन कर दिया गया था, बाद में जून 1998 में उसे कानूनी आजादी प्रदान की गई, परंतु उसे मुद्रास्फीति का एक लक्ष्य प्राप्त करना था। केंद्रीय बैंकों की स्वायत्तता की हाल की प्रवृत्ति बुंडेस बैंक और रिज़र्व बैंक ऑफ न्यूजीलैंड के अनुभव से काफी प्रभावित रही है।

भारतीय संदर्भ में, केंद्रीय बैंक की स्वायत्तता को एक अलग संदर्भ में देखना होगा। प्रारंभ में, पंचवर्षीय योजनाएं शुरू होने से लेकर मौद्रिक नीति से यह अपेक्षा की गई थी कि वह विस्तारकारी राजकोषीय नीति का निभाव करेगी, जैसा कि मैंने चर्चा की है, ताकि वह सरकार की अपेक्षाओं को पूरा कर सके। बाद में, सामाजिक दायित्वों को पूरा करने के लिए वाणिज्यिक बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया, सांविधिक अनुपातों को बढ़ाया

CMYK 688

गया, ब्याज दरों को नियंत्रित किया गया, ऋण की राशनिंग की गई, और उसे प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र की ओर मोड़ा गया, विदेशी मुद्रा विनियम दरों को निश्चित किया गया, प्रबंधित किया गया। अर्थव्यवस्था आबद्ध थी, और विदेशी मुद्रा के आगम-निर्गम को कठोरतापूर्वक नियंत्रित किया गया। ऐसी व्यवस्था में मौद्रिक नीति की स्वायत्तता की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। 1991 से, सुधारों के कारण परिस्थिति में बदलाव आया है। सुधारों के कारण सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में विनिवेश हुआ, निजी क्षेत्र के बैंकों को प्रोत्साहित किया गया, ब्याज दरों का अपविनियमन किया गया, सांविधिक अनुपातों को कम किया गया, स्वतः मौद्रीकरण को समाप्त किया गया, तथा चालू खाते की परिवर्तनीयता लागू की गई। हाल के वर्षों में बाजार में अल्पावधिक चलनिधि को दैनिक आधार पर चलनिधि समायोजन सुविधा के जरिए सफलतापूर्वक प्रबंधित किया जा रहा है। जबकि दीर्घावधिक चलनिधि को परंपरागत खुले बाजार के परिचालनों द्वारा प्रबंधित किया जा रहा है; सरकारी प्रतिभूतियों की नीलामियों द्वारा। जैसे ही 2003-04 में अत्यधिक विदेशी मुद्रा का आगम देश में बढ़ा, तो रिज़र्व बैंक और केंद्रीय सरकार के बीच सहयोग से एक अनोखा नवोन्मेष किया गया जिसमें भारतीय रिज़र्व बैंक को इसका निष्प्रभावीकरण करने के लिए नए लिखत दिए गए। सरकार रिज़र्व बैंक को यह अनुमति देने के लिए सहमत हुई कि वह इस निष्प्रभावीकरण के प्रयोजन के लिए एक निश्चित सीमा तक अतिरिक्त सरकारी प्रतिभूतियां जारी कर सकता है। इस प्रकार सरकार/ भारतीय रिज़र्व बैंक के सहयोग से एक नई लिखत आयी जिसने रिज़र्व बैंक को मौद्रिक नीति के उद्देश्यों का अनुसरण करने के लिए एक नई शक्ति प्रदान की । मौद्रिक नीति का परिचालन 3 प्रतिशत के नकदी प्रारक्षित अनुपात तथा 25 प्रतिशत के सांविधिक चलनिधि अनुपात की न्यूनतम सीमाओं के चलते बाधित हुआ। भारतीय रिज़र्व बैंक को और ज्यादा मौद्रिक नीति के संचालन में नमनीयता देने के लिए सरकार संसद में संबंधित अधिनियमों में संशोधन करके इन न्यूनतम सीमाओं को हटाने के लिए सहमत हुई। इस प्रकार, मौद्रिक नीति प्रत्यक्ष लिखतों के प्रयोग की बजाए बाजार आधारित अप्रत्यक्ष लिखतों के प्रयोग की ओर बढ़ी है। जिसमें मुद्रा बाजार और सरकारी प्रतिभूति बाजार का विकास हुआ है। 1991 से हुई ये गतिविधियां यह संकेत देती हैं कि भारतीय रिज़र्व बैंक को मौद्रिक नीति के निर्माण में पहले से ही काफी स्वायत्तता प्राप्त है।

मुद्रास्फीति का निश्चित लक्ष्य प्राप्त करना

केंद्रीय बैंक स्पष्ट रूप से मुद्रास्फीति का लक्ष्य निर्धारित करने के मुद्दे पर बंटे हुए हैं। अनेक केंद्रीय बैंक जैसे बैंक ऑफ कनाडा, बैंक ऑफ इंग्लैंड, तथा रिजर्व बैंक ऑफ न्यूजीलैंड ने स्पष्टतः मुद्रास्फीति के लक्ष्यों को अपनाया है। अन्य केंद्रीय बैंक जिनकी मुद्रास्फीति से लड़ने की विश्वसनीयता काफी समय से सुस्थापित है (जैसे बुडेसबैंक (पहले) तथा स्विस नेशनल बैंक) वार्षिक मुद्रास्फीति के लक्ष्य निर्धारित नहीं करते। तथापि, संख्यागत मुद्रास्फीति के उद्देश्यों पर ध्यान केंद्रित करने से मौद्रिक नीति की नमनीयता में कमी लाई जा सकती है, विशेषकर अन्य नीतिगत लक्ष्यों के संबंध में।

निम्न मुद्रास्फीति के साथ-साथ अर्थव्यवस्था की उच्च तथा निरंतर बनी रहनेवाली वृद्धि भारत में मौद्रिक नीति की मुख्य चिंता रही है। नीतिगत उद्देश्य के रूप में चुनी गयी मुद्रास्फीति की दर को उत्पाद की अपेक्षित दर तथा रोजगार वृद्धि के अनुरूप होना है। अनुचित विकल्प का चयन उसे व्यापक आर्थिक कल्याण की हानियों की ओर ले जाएगा। मौद्रिक प्राधिकारियों को निरंतर रूप से वृद्धि और मुद्रास्फीति के बीच के अल्पावधिक संबंधों को साधना होगा। यह समस्या इस तथ्य से और भी बढ़ जाती है कि वृद्धि और मुद्रास्फीति का संबंध एक रेखीय नहीं है। कुछ निम्न दरों पर मुद्रास्फीति इस रूप में काम कर सकती है जो बेरोजगार संसाधनों को अर्थव्यवस्था में वापस लाने में सहायता करती है और लाभदायक होगी या सबसे खराब स्थिति में वृद्धि के लिए निष्प्रभावी रहेगी। उच्चतर स्तरों पर मुद्रास्फीति वृद्धि के लिए प्रतिकूल है। मुद्रास्फीति का अत्यधिक निम्न दरें भी वृद्धि विरोधी या अपस्फीति कारक होती हैं । किस स्तर पर मुद्रास्फीति का नीतिगत चयन होना चाहिए या मुद्रास्फीति की प्रारंभिक दर क्या हो यदि उसे वृद्धि के प्रति हानिकारक प्रभावों से मुक्त होना है? अनेक ऐसे अध्ययन हुए हैं जिन्होंने प्रारंभिक मुद्रास्फीति की दरों का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। उन्होंने सुझाया है कि प्रारंभिक मुद्रास्फीति की दर अनेक कारकों पर निर्भर करती है जैसे अर्थव्यवस्था की बुनियादी संरचना, मुद्रास्फीति का पुराना इतिहास, सूचकांकन का स्तर तथा मुद्रास्फीतिगत अपेक्षाएं। कुछ अध्ययन यह सुझाते हैं कि विकसित और विकासशील देशों के लिए मुद्रास्फीति की प्रारंभिक दरें क्रमशः 1-3 प्रतिशत और 7-11 प्रतिशत के बीच पड़ती हैं। तथापि सभी देशों के साथ जुड़ी समस्या अत्यधिक बड़ी दरों से प्रभावित होने का जोखिम है इनके नमूनों में वे देश भी शामिल हैं जिनमें एक प्रतिशत जितने निम्न स्तर से लेकर 200 प्रतिशत या इससे भी उच्च स्तर की मुद्रास्फीति रही है। अतः इस प्रकार की मुद्रास्फीति की प्रारंभिक दरों का अनुमान प्रत्येक देश के बारे में अलग-अलग प्रकार से निकालने होंगे ताकि मुद्रास्फीति के संबंध में अर्थव्यवस्था के व्यवहार को समझा जा सके।

मौद्रिक नीति के संचालन में अनिश्चितता का एक प्रमुख स्रोत स्फीतिकारी प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझने की कमी है, जैसी कि हाल के वर्षों में देखी गई। इसने अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले आघातों तथा मूल्य स्थिरता के लिए परिणामी जोखिमों के स्वरूप का सही आकलन करने में रुकावट पैदा की है । सही समय में घटबढ़ तथा स्फीति के संकेतकों की विश्वसनीयता, संभावित उत्पाद जैसे अदृश्य संकेतकों से घिरी अनिश्चितता तथा अर्थव्यवस्था की स्थिति के बारे में केंद्रीय बैंक की आंतरिक जानकारी में अंतराल मौद्रिक नीति के निर्माण को जटिल बना देती हैं। हमारे जैसे देशों में अन्य अनमनीयताएं भी हैं जो नियंत्रित मूल्यों, मजदूरी निर्धारक प्रक्रियाओं तथा मौसम प्रेरित आपूर्ति जनित आघातों से जुड़ी हैं जो मूल्यों को प्रभावित करती हैं। मुद्रास्फीति तथा इसके निर्धारक कारकों के बीच संबंधों की जानकारी सीमित रहती है। यदि किसी उपयुक्त मॉडल पर सहमति भी बन जाए तो भी उक्त मॉडल

के अंदर ही संरचनागत संबंधों की शक्ति के बारे में पर्याप्त अनिश्चितता बनी रहेगी। इससे भी अधिक बुनियादी समस्या यह है कि अर्थव्यवस्था में संरचनागत परिवर्तनों के फलस्वरूप समय के साथ मानक बदल सकते हैं। यह संभवतः यह स्पष्ट करता है कि कोई भी केंद्रीय बैंक अपनी वास्तविक नीतियां बनाने के लिए किसी औपचारिक मॉडल का प्रयोग क्यों नहीं करता; निकट भविष्य के लिए ये मॉडल इस निर्णय में सहायक होंगे, न कि निर्णयों का स्थान लेंगे। इस प्रकार मुद्रास्फीति के लक्ष्य को निर्धारित करने का यह आसान-सा सिद्धांत भी इतना सरल नहीं है तथा विकासशील देशों में मौद्रिक नीति निर्माताओं के लिए समस्याएं खड़ी करते हैं।

भारत में हम मुद्रास्फीति के किसी लक्ष्य को निर्धारित करने के पक्ष में नहीं रहे हैं, मौद्रिक नीति के केंद्रीय उद्देश्य के रूप में निम्न मुद्रास्फीति की दर को बनाए रखते हुए, और साथ ही साथ उच्च तथा निरंतर बनी रहनेवाली वृद्धि दर विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण है। मुख्य उद्देश्य के रूप में वृद्धि के संबंध में वैध चिंता के अलावा, कुछ अन्य कारक भी हैं जो यह सुझाते हैं कि भारत के लिए मुद्रास्फीति को निश्चित लक्ष्य में बांधना उपयुक्त नहीं होगा। पहला, अन्य विकासशील देशों से भिन्न हमारे यहां संतुलित मुद्रास्फीति का रिकार्ड रहा है, जिसमें दो अंकीय मुद्रास्फीति अपवाद ही रही है और व्यापक रूप में सामायिक रूप से अस्वीकार्य रही है। दूसरा, मुद्रास्फीति का निश्चित लक्ष्य बनाने के लिए दक्ष वित्तीय बाजारों के परिचालन के माध्यम से एक दक्ष मौद्रिक संचरण के प्रक्रिया-तंत्र के होने और साथ ही ब्याज दरों में विकृतियों के होने की अपेक्षा होती है। हालांकि भारत में हाल के वर्षों में मुद्रा बाजार, सरकारी ऋण बाजार तथा विदेशी मुद्रा बाजार वस्तुतः विकसित हुए हैं, परंतु अभी भी उनको और आगे जाना है, जबकि कंपनी ऋण बाजार को अभी भी विकसित होना है। हालांकि ब्याज दर के अपविनियमन का कार्य पूरा हो चुका है, कुछ नियंत्रित ब्याज दरें अभी भी बनी हुई हैं। तीसरे, मुद्रास्फीतिगत दबाव अभी भी अक्सर कृषि पर मानसून के प्रभाव के संबंध में उल्लेखनीय आपूर्तिगत आघातों से उभरते हैं, जहां मौद्रिक नीतिगत कार्रवाई की भूमिका बहुत कम है। अंतिम, भारत जैसी विशाल अर्थव्यवस्था में, जिसमें विभिन्न क्षेत्रीय भिन्नताएं हैं, तथा क्षेत्रों के बीच कारक और उत्पाद बाजारों में बाजार की अपूर्णताएं आगे भी बनी हुई हैं, अतः सर्वत्र स्वीकार्य मुद्रा स्फीतिगत उपायों का विकल्प अभी भी कठिन है।

VI. आगे की रास्ता

भारतीय रिज़र्व बैंक अर्थव्यवस्था की बदलती हुई आवश्यकताओं तथा सरकार की नीतियों के अनुरूप कार्यप्रणाली तथा संरचनागत दृष्टि से निरंतर अपने आप को रूपांतरित करता रहा है। 1991 से, सुधारों की एक विशेष अवधि, तथा परिवर्तन का अर्थव्यवस्था में प्रयोग किया गया है, और भारतीय रिज़र्व बैंक इस परिवर्तन में बहुत सक्रियता से भाग लेता रहा है। भारतीय रिज़र्व बैंक अपनी विकासात्मक भूमिका को लगातार निभाता रहा है, परंतु अब कुछ अंतर के साथ। हाल के वर्षों में रिज़र्व बैंक वित्तीय बाजारों के विकास, संस्थाओं के निर्माण तथा वित्तीय प्रणाली में प्रौद्योगिकी के उपयोग को प्रोत्साहित करने के लिए निरंतर सचेत रूप से प्रयास करता रहा है।

राजकोषीय जवाबदेही तथा बजट प्रबंध विधेयक के अधिनियम बन जाने के कारण अर्थव्यवस्था एक नए चरण से गुजर रही है जिसमें निजी और विदेशी बैंकों की सहभागिता को प्रोत्साहित किया जा रहा है, वैश्वीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है, तथा पूंजी खाते का निरंतर उदारीकरण किया जा रहा है। सकल बचत दर सकल घरेलू उत्पाद की लगभग 30 प्रतिशत है, तथा हाल के वर्षों में अर्थव्यवस्था लगभग 8 प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि दर दर्ज कर रही है। इस परिस्थिति में, घरेलू वित्तीय बचतों में उल्लेखनीय वृद्धि की आशा है, तथा अर्थव्यवस्था में उच्चतर ऋण संवितरण की आवश्यकता है । वित्तीय समावेश पर जोर देने से वित्तीय मध्यस्थता के लिए बढ़ी हुई आवश्यकता की ओर बढ़त होगी। अतः वित्तीय संस्थाओं के लेनदेनों की उच्चतर प्रमात्रा के लिए तैयार रहना होगा। प्रतिस्पर्धा में अपेक्षित वृद्धि को देखते हुए बैंकिंग संस्थाओं को विभिन्न सेवाओं को जैसे बैंकिंग, ई-कॉमर्स, पारस्परिक निधियां तथा मुद्रा बाजार के परिचालनों को भी समन्वित करना होगा।

भारतीय रिज़र्व बैंक को अनेक नई चुनौतियां झेलनी पड़ रही हैं । पहली है, यदि भारतीय बैंकिंग प्रणाली को अंतरराष्ट्रीय उत्कृष्टता प्राप्त करनी है, तो इसे कई मोर्चों पर कार्रवाई करनी होगी जैसे महत्तर प्रतिस्पर्धा की शुरुआत, गतिविधियों का एकाभिमुखीकरण, तथा वित्तीय सम्मुचीकरण का पर्यवेक्षण, नई प्रौद्योगिकी की शुरुआत, ऋण जोखिम के आकलन में सुधार; वित्तीय नवोन्मेष को प्रोत्साहित करना, आंतरिक नियंत्रणों में सुधार तथा एक उपयुक्त कानूनी ढांचे की स्थापना। इस संदर्भ में भारतीय रिज़र्व बैंक की भूमिका जहां सुरक्षा और सुदृढ़ता को प्रोन्नत करना है, वहीं बैंकिंग प्रणाली को प्रतिस्पर्धी बनने तथा नवोन्मेष करने के लिए प्रोत्साहित करना है। दूसरे, केंद्रीय बैंक के रूप में, भारतीय रिज़र्व बैंक को वित्तीय बाजारों का, विशेषकर, कंपनी ऋण बाजार के साथ-साथ संचार-प्रक्रिया तंत्र की दक्षता को बढ़ाने के लिए मुद्रा बाजार, सरकारी प्रतिभूति बाजार और विदेशी मुद्रा बाजारों और भी विकास करने की जरूरत होगी। तीसरे, ऋण के विस्तार में अपेक्षित वृद्धि तथा वैश्विक समेकन के साथ-साथ मूल्य स्थिरता तथा वित्तीय स्थिरता चिंता का विषय बनी रहेगी। चौथे, सामाजिक सुरक्षा तथा पेंशन और बीमा निधियों के निवेश के संबंध में चिंताओं से भी निपटना होगा।

मैं अपनी बात आशावादी नोट के साथ पूरी करना चाहूंगा । जैसा कि भारतीय रिज़र्व बैंक ने पिछले वर्षों में चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना किया है, अतः इससे आशा की जा सकती है कि यह भविष्य में भी बदलते आर्थिक परिवेश के साथ अपने आपको आत्मसात करता रहेगा। जैसे ही हम केंद्रीय बैंकिंग के और आगे विकास तथा भारत में वित्तीय विनियमन का विचार करते हैं, हमें समग्र आर्थिक नीति के व्यापक उद्देश्यों, जिसके

दायरे में मौद्रिक नीति को रखना होगा, तथा भारत में आर्थिक प्रबंधन की वास्तविकताओं के प्रति सचेत रहना होगा ।

संदर्भ

किंग मार्वियेन (2004) : ''दि इन्सटिट्यूशंस आफ मॉनिटरी पालिसी'' अमरीकन इकॉनोमिक रिव्यू, खंड 94 (मई) पृ.1-13

मोहन, राकेश (2006) : ''भारत में चलनिधि प्रबंधन के साथ चलते हुएः एक व्यावसायिक दृष्टिकोण'' भा.रि.बैं.बुलेटिन, अप्रैल

भारतीय रिज़र्व बैंक (2005क) मुद्रा और वित्त की रिपोर्ट : 2004-05, मुंबई, भा.रि.बैं.

भारतीय रिज़र्व बैंक (2005ख) - भारतीय रिज़र्व बैंक का इतिहास (3 खंड) मुंबई, भा.रि.बैं.